International Journal of Scientific Research in Science and Technology
Print ISSN: 2395-6011 | Online ISSN: 2395-602X (www.ijsrst.com)
doi : https://doi.org/10.32628/IJSRST

'जूठन' में दलित मानवाधिकार के बुनियादी प्रश्न

डॉ. नीलम
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, लक्ष्मीबाई कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, अशोक विहार-3, दिल्ली

Article Info
Volume 8, Issue 5
Page Number : 625-634

Publication Issue
September-October-2021

Article History
Accepted : 01 Oct 2021
Published : 20 Oct 2021

ABSTRACT

'जूठन' भारतीय समाज के उस संस्कृति के कटु सच को उजागर करता है जो संस्कृति अपने आपको सबसे सर्वश्रेष्ठ होने का दम्भ भरती है। वह संस्कृति जहाँ पर पत्थर और जानवर के लिए भरपूर जगह और संवेदना है लेकिन इंसान के तौर पर जन्म लेने वाले दलित समाज के लिए इस सर्वश्रेष्ठ संस्कृति में कोई जगह नहीं है। इनके पास आते ही मानवीय संवेदनाएँ समाप्त हो जाती हैं और समाज की जातीय कुरूपता सामने आती है। सदियों से चली आ रही यह जाति प्रथा आज भी 21वीं सदी में अपने चरम पर है। देश को आजाद हुए 70 साल से ज्यादा हो गए लेकिन भारतीय समाज का यह कुरुप चेहरा आज भी किसी न किसी रूप में हमारे समाज में व्याप्त है। आज भी दलित समाज के लोगों को अपने आप को स्थापित करने और मानव होने के लिए जद्दोजहद करनी पड़ रही है। मानव होने की यह लड़ाई 'जूठन' में हम देख सकते हैं जहाँ लेखक शुरु से अंत तक मानवीय अधिकारों की लड़ाई लड़ रहा हैं। यह मानवीय अधिकार की लड़ाई सिर्फ 'जूठन' तक ही सीमित नहीं है बल्कि आज भी दलित समाज के लोगों को मानवीय अधिकार की लड़ाई लड़नी पड़ रही है।

भारत में जाति व्यवस्था की क्रूर स्थिति किसी से छिपी नहीं है। दलितों का जीवन आज भी भयावह त्रासदी से घिरा पड़ा है। इस भारतीय व्यवस्था ने एक ऐसे समाज का निर्माण किया जिसे दलित समाज अपने कर्मों का फल मानने लगा। यह हिंदू वर्ण-व्यवस्था इस कारण भी विकसित होती रही क्योंकि इन्हें शिक्षा से वंचित रखा गया और कहा गया कि इनका जन्म सिर्फ सेवा करने के लिए हुआ है। इसी आधार पर ये मनुवादी लोग सदियों से इस दलित समाज का शोषण करते हुए प्रगति की राह में आगे बढ़ते गये और इन्होंने इनका जीवन जानवरों से भी बदतर बना दिया। अंजाम यह हुआ कि इन बहिष्कृत लोगों का जीवन अंधकार भरी नारकीय बस्तियों, गाँवों, कस्बों, नगरों आदि में सिसकता रहा। इतिहास उठाकर देखें तो ये दलित समाज गुमनाम जिंदगी जी रहा था। जिसमें अभाव, अपमान, अवहेलना, पीड़ा और वेदना के अलावा कुछ भी नहीं था जो आज भी किसी न किसी रूप में कायम है। इन हिंदू समाज के ठेकेदारों ने अन्यत्र मर्यादाओं की ऐसी रेखा इस समाज के आगे खींची कि जिसका उललंघन मात्र पर कठोर दण्ड दिया जाता था। ये धर्म के ठेकेदार इन्हें अशुद्ध, अछूत और चांडाल कहकर निरंतर इन पर घोर अत्याचार करते रहे। इनके भीतर कुछ जिंदा न रहे ये कभी गुलामी की जंजीर को तोड़कर विद्रोह न करें इसलिए इन्हें अंधकार और कर्म के बंधन में बांधकर इन बेड़ियों को और मजबूत किया। लेकिन आखिर कब तक इनको बेड़ियाँ पहनाई जा सकती थी। कभी न कभी तो वे इन बेड़ियों को तोडेंगे और समाज में अपनी हक की लड़ाई लडेंगे। जिसकी बिगुल डॉ. भीमराव

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

अंबेडकर ने बजाई। जहाँ वे कहते हैं "यह कहा जा सकता है कि हिंदुओं की धार्मिक पुस्तकों के प्रति मैंने वह आदर प्रकट नहीं किया है, जो धार्मिक पुस्तकों के प्रति होना चाहिए। धार्मिक पुस्तकों के प्रति श्रद्धा कराई नहीं जा सकती। यह श्रद्धा तो सामाजिक स्थितियों से स्वयं उत्पन्न होती है अथवा हटती है। धर्म ग्रंथों के प्रति ब्राह्मणों की श्रद्धा तो स्वाभाविक है, परन्तु गैर ब्राह्मणों के लिए यह अस्वाभाविक है। यह भेदभाव सरलता से समझा जा सकता है।'' अंबेडकर ने जो बिगुल बजाई उसकी गूंज हमें दलित साहित्य में देखने को मिलता है। जिसमें 'जूठन' कालजयी रचना के रूप में हमारे सामने आती है।

जब हम 'जूठन' को पढ़ते हैं तो ऐसा लगता है कि यह विद्रुप स्थिति केवल उनकी नहीं बल्कि ज्यादातर सभी दलितों की है। यह इनकी कहानी न रहकर बल्कि समूचे दलित समाज की कहानी का प्रतिनिधित्व करती है। इसका इतिहास मार्मिक गाथा है जो दस्तक देते हुए कहती है कि हम दलितों का जीवन ऐसा ही था जिससे हम कमोवेश आज भी दो चार होते हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी आत्मकथा 'जूठन' के दोनों भाग में दलित समाज की सच्चाई को बहुत ही मार्मिकता से उठाया है। दलित जीवन की भयावह स्थिति का चित्रण 'जूठन' में देखने को मिलता है जहाँ लेखक यथार्थ चित्रण का बयान बहुत ही ईमानदारी से करता है। इनकी आत्मकथा को पढ़ते समय ऐसा महसूस होता है कि घटनाएं अपने आप हमारे सामने घटित हो रही हैं।

'जूठन' दिल दहला देने वाली सच्ची कहानी है। जिसमें जाति-बिरादरी की पीड़ा, अपमान और गरीबी समाई हुई हैं जिसमें भयावह जीवन की सच्चाई और लेखक का अपना भोगा हुआ यथार्थ का वर्णन है। जिसने लेखक के पूरे जीवन को प्रभावित किया है। यहाँ

तक कि पढ़े लिखे होने के बाद भी उनको जातीयता का दंभ भोगना पड़ता है। जब वाल्मीकि जी का ट्रांसफर देहरादून हो जाता है और वह ऑर्डिनेंस फैक्टरी में डिजाइनर के पद पर कार्यभार संभालते हैं तो इस सवर्ण समाज से यह देखा नहीं जाता और जेठी जी अपनी घटिया सोच तथा जाति से ग्रस्त मानसिकता के तहत वाल्मीकि से कहते हैं कि "यहाँ डिजाइनिंग का काम होता है, आप कर पायेंगे? जिसके जवाब में वाल्मीकि जी कहते हैं "क्यों, आपको ऐसा क्यों लग रहा है कि मैं नहीं कर पाऊँगा, शायद आपको जानकारी नहीं है, मेंने इसी क्षेत्र में मुंबई से प्रशिक्षण लिया है और ऑर्डनेंस फैक्टरी, चन्दन पुर में यही काम करता रहा हूँ।'' मैंने उन्हें बताने की कोशिश की लेकिन जैसे वे मेरी किसी भी बात पर विश्वास करने के मूड में नहीं थे। शायद पहले से ही यह मानकर चल रहे थे।

'वाल्मीकि... वह भी डिजाइनर...? उनकी कल्पना से बाहर था, एक वाल्मीकि का इस पद पर आना। "किस तरह का काम किया है अभी तक...?'' जेठी जी ने बिना मेरी बात सुने अगला सवाल किया।

मुझे लगा कि ये श्रीमान् वही सुनना चाहते हैं जिसके वे आदी हैं इसलिए मैंने साफ-साफ कहा, "छोड़िए इन बातों को आप जो भी काम देंगे मैं करूँगा।''

मेरे इस आत्मविश्वास से जैसे वे कुढ़ गए थे। उनके चेहरे पर एक अजीब-सी भाव-भंगिमा परिलक्षित हुई थी। चैलेंज करने की मुद्रा में बोले, "मिस्टर! यहाँ डिजाइनिंग का काम है, इसमें दिमाग लगाना पड़ता है, साथ ही रशियन ड्राइंग्स है जिन्हें समझना हर किसी के बस का नहीं है।''

दलितों का जीवन कांटों के पथ पर चलने जैसा है जहाँ वह जब जब चलेगा पैर लहुलुहान होता जायेगा। जब वह इन व्यवस्थाओं से टकरायेगा तो मारा जायेगा। जाति व्यवस्था हमारे समाज का वह विद्रुप चेहरा है जो कुरुपता की इन्तहां पार कर चुका है। वह एड्स के समान आज भी फैला हुआ है जिसका इलाज आज भी संभव नहीं है। यह वह फोड़ा है जो नासूर बना हुआ है हमारे समाज में। जहां इंसान से ज्यादा उसकी जाति महत्वपूर्ण होती है। जाति के नाम पर सारी मानवीय संवेदना समाप्त हो जाती है। शेष रहता है तो सिर्फ जाति का झूठा दम्भ। जिसका पर्दाफाश बहुत मार्मिक ढंग से लेखक अपनी आत्मकथा में करता है। तभी तो द्वारिका भारती कहते हैं- "यह एक साहित्यिक कृति या कलाकृति नहीं अपितु 'एक विलाप', 'लम्बी चीख', 'नर्म ह्रदय' बिंधने वाली तथा 'वेदना का हाटिया' बहाने वाली कथा है।''

दलित जीवन की भयावह स्थिति का वर्णन करते हुए, वाल्मीकि जी लिखते हैं– ''दलित जीवन की पीड़ाएँ असहनीय और अनुभव दग्ध हैं। ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके। एक ऐसी समाज व्यवस्था में हमने सांसे ली हैं जो बेहद क्रूर और अमानवीय हैं। दलितों के प्रति असंवेदनशील भी।'' दलितों की दयनीय स्थिति का चित्रण वाल्मीकि जी बहुत शिद्दत से करते हुए वर्ण–व्यवस्था के ठेकेदारों पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं कि जिन परिस्थितियों में दलित अपना जीवनयापन करते हैं अगर समाज के ये ठेकेदार उन परिस्थितियों में रहें तो इन्हें पता चलेगा कि दलितों का जीवन कितना कांटो से भरा है। दलितों की बिदबिदाती और दुर्गंध से भरी जिंदगी का वर्णन करते हुए लेखक कहता है कि ''चारो तरफ गंदगी भरी होती थी। ऐसी दुर्गंध कि मिनट भर में साँस घुट जाये तंग गलियों में घूमते सुअर, नंग–धडंग बच्चे, कुत्ते, रोजमर्रा के झगड़े, बस यह था वह वातावरण जिसमें बचपन बीता। इस माहौल में यदि वर्ण–व्यवस्था को आदर्श–व्यवस्था कहने वालों को दो चार–दिन रहना पड़ जाए, तो उनकी राय बदल जाएगी।'' यह जिंदगी दलितों की अपनी चुनी हुई जिंदगी नहीं है बल्कि हजारों सालों से दलितों को मजबूर किया गया है ऐसी भयावह जिंदगी जीने के लिए। 'जूठन' में हम मानवीय अधिकारों के प्रति लड़ाई शुरु से अंत तक देख सकते हैं जहाँ इंसान जानवरों से भी बद्तर अपनी जिंदगी को जीने के लिए मजबूर है। जहाँ इंसान बिदबिदाते हुए कीड़े के समान अपनी जिंदगी को जीने के लिए बाध्य है। ऐसा लगता है दलितों का जीवन, जीवन नहीं है उनका अपना कोई आत्म–सम्मान नहीं है। जब जी में आया उन्हें गालियों और लात मुक्कों से नवाज दिया। उन्हें पानी को छूने का अधिकार नहीं। यहाँ तक कि इन सब अत्याचारों में शिक्षा के ठेकेदार भी बढ़–चढ़कर अपनी भूमिका अदा करते हैं। वह इतने दिमाग से काम करते हैं कि भैंस भी मर जाए और लाठी भी न टूटे अर्थात दलित बच्चों के सामने ऐसी परिस्थिति ला दी जाये कि दलित वर्ग का बच्चा शिक्षा आर्जित न कर सके। यानि बाबा साहब भीमराव अंबेडकर का मूल मंत्र 'शिक्षित बनो, संगठित रहो, संघर्ष करो' को पनपने से पहले ही नस्तोनाबूत कर दिया जाए। न शिक्षा रहेगी, न कोई संगठित होगा और न संघर्ष करेगा। 'जूठन' में इस तरह की प्रवृत्ति हम बखूबी देख सकते हैं जहाँ वाल्मीकि जी कहते हैं ''त्यागियों के लड़के 'चूहड़े' कहकर चिढ़ाते थे। कभी–कभी बिना कारण पिटाई भी कर देते थे। एक अजीब सी यातनापूर्ण जिंदगी थी, जिसने मुझे अंतर्मुखी और चिड़चिड़ा तुनक मिजाजी बना दिया था। स्कूल में प्यास लगे तो हैंड पंप के पास खड़े रहकर किसी के आने का इंतजार करना पड़ता था। हैंड पंप छूने पर बवेला हो जाता था। लड़के तो पीटते ही थे मास्टर लोग भी हैंडपंप छूने पर सजा देते थे। तरह–तरह के हथकंडे अपनाए जाते थे ताकि मैं स्कूल छोड़कर भाग जाऊँ और मैं भी उन्हीं कामों में लग जाऊँ। जिनके लिए मेरा जन्म हुआ है। उनके अनुसार स्कूल आना मेरी अनाधिकार चेष्टा थी।''

ये जिंदगी वाल्मीकि की अपनी जिंदगी नहीं बल्कि समाज के उन सभी दलितों की स्थिति है जो इनसे दो चार होते रहते हैं। सवर्ण मानसिकता आज भी इसी प्रकार की बनी हुई है जहाँ दलितों को शिक्षा से दूर रखने के विभिन्न प्रयास किये जाते हैं। इन मनुवादियों को यह डर हमेशा रहता है कि अगर शिक्षा की तलवार इन दलितों के हाथ में आ गई तो इन वर्ण–व्यवस्था के ठेकेदारों का सिंहासन डोल जायेगा, इनका महल ढह जायेगा। जो झूठ, अत्याचार, शोषण आदि पर खड़ा है तभी तो बाबा साहब कहते हैं कि शिक्षा पर अपना अधिकार करो। एक शिक्षा ही हमें अंधकारमय जीवन से उजाले की तरफ ले जायेगी। हम जितना इसका सेवन करेंगे उतना ही दहाड़ेंगे। यानि 'शिक्षा शेरनी का वह दूध है जो जितना इसे पीयेगा उतना दहाड़ेगा।

दलितों की जिंदगी कुत्ते, बिल्लियों से भी बद्तर बना दी गई। जिस जगह और चीज को जानवर तो छू सकते थे लेकिन दलितों का छूना वर्जित था। जहाँ लेखक कहता है ''अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुत्ते–बिल्ली, गाय–भैंस को छूना बुरा नहीं था लेकिन चूहड़े का स्पर्श हो जाये तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इन्सानी दर्जा नहीं था। वे सिर्फ जरूरत की वस्तु थे। काम पूरा होते ही उपयोग खत्म। इस्तेमाल करो, दूर फेंको।'' यह स्थिति आज भी हमारे समाज में कायम है। बड़े–बड़े ओहदे प्राप्त दलित भी कमोवेश इसका शिकार है। अभी हाल ही में देश के सबसे प्रतिष्ठित ओहदे पर स्थापित माननीय राष्ट्रपति कोविंद जी के साथ भी यह अमानवीय बर्ताव करने वाले सवर्ण–मानसिकता के लोग बाज नहीं आये और जिस मंदिर में प्रवेश दलित राष्ट्रपति का हुआ था उस मंदिर को गंगा जल से धोया गया। इस घटना से यह ज्ञात होता है कि 21वीं सदी के भारत के लोग आज भी जातीय मानसिकता को छोड़ नहीं पाये हैं। हम सोच सकते हैं कि जब इतने बड़े पद पर प्रतिष्ठित

व्यक्ति के साथ इस प्रकार की घिनौनी मानसिकता का परिचय हमारा समाज देता है तो आम दलित व्यक्ति की स्थिति आज भी क्या है इसका अंदाजा हम लगा सकते हैं।

जब तक जाति का पता न चले आपको आदर और सत्कार खूब दिया जाता है जैसे ही जाति का ज्ञात होता है आपके साथ जानवरों से बद्‌तर व्यवहार किया जाता है। बात उस समय की है जब वाल्मीकि जी अपने मास्टर बृजपाल जी के गांव गेहूँ का कट्‌टा लेने गये थे। गाँव जाने के बाद उनका और भिखूराम का खूब आदर किया गया उनको खाना खिलाया गया लेकिन जैसे ही उनसे उनकी जाति के बारे में पूछा गया वाल्मीकि जी कहते हैं– "हुक्के की नली से धुआँ खींचते हुए व्यक्ति ने हम दोनों के विषय में बुजुर्ग ने पूछताछ शुरु कर दी। बरला से आए हैं, सुनते ही उसने सवाल दागा था, "कौन जात है?'' उसके सवाल का उत्तर दिया मैंने, "चूहड़ जात है।'' दोनों के मुँह से एक साथ निकला, "चूहड़ा।'' बुजुर्ग ने चारपाई के नीचे पड़ी लाठी उठाकर तड़ से मार दी थी। भिक्खूराम की पीठ पर। हाथ तगड़ा था। भिक्खूराम बिलबिला गया था।

बुजुर्ग के मुँह से अश्लील गालियों की बौछार होने लगी थी। आँखें भयानक लग रही थीं। दुबले पतले शरीर में शैतान उतर आया था। उनके बर्तनों में आदर के साथ बैठकर खाना खाने , चारपाई पर बैठने का दु:साहस किया था। जो उनकी नज़र में अपराध था। मैं सहमा हुआ चबुतरे से नीचे खड़ा था। बुजुर्ग चिल्ला रहा था जिसे सुनकर भीड़ जमा हो गई थी। कई लोगों की राय थी रस्सी से बाँधकर दोनों को पेड़ पर लटका दो।'' हमारी वर्ण–व्यवस्था ऐसी है कि धर्म के ठेकेदारों के बर्तन में कुत्ता, बिल्ली, चूहे, गाय–भैस आदि सभी मुँह लगा सकते हैं उन्हें इस अपराध का कठोर दण्ड नहीं दिया जाता है। लेकिन एक दलित समाज का व्यक्ति उनके बर्तनों को छू नहीं सकता। वाल्मीकि जी और उनका मित्र भिक्खूराम ने तो चारपाई पर बैठने और उनके बर्तन में खाने का घोर अपराध किया था। सवर्णवादी मानसिकता के आधार पर इसकी सजा तो उनको मिलनी ही चाहिए थी। इस देश में जानवर का जन्म तो ले लो लेकिन दलित परिवार में जन्म लेना घोर अपराध है। आपकी जाति के आधार पर ही अतिथि सत्कार होता है। जाति के आधार पर ही आदर सत्कार मिलता है। दलित समाज में जन्म लेने से आप आदर के हकदार नहीं हैं जाति के आधार पर इतना तिरष्कार मिलता है कि इसे सोचकर ही समाज की बनाई गई तथाकथित ढांचे से सिर्फ नफरत होती है। जूठन में ऐसी ही दर–परतदर दलित जीवन की सच्चाई को वाल्मीकि जी बहुत मार्मिक ढंग से उठाते हैं। वे कहते हैं "अतिथि सत्कार का खोखलापन खुल गया था। अतिथि की जाति ही उसे आदर दिलाती है। वैसे ही आदर पाने का हमें अधिकार ही कहाँ था। मेरी आशंकाएँ सच हो गई थीं। किसी तरह हम लोग उनके चंगुल से बच गए थे।'' 'जूठन' में शुरु से अंत तक लेखक मानवीय अधिकारों की बात अपने साहित्य के माध्यम से करता है। जहाँ वह सदियों से चली आ रही परंपरा को ढोने से इंकार करते हुए अपनी एक अलग जगह बनाता है। वह व्यवस्थाओं से टकराता है और कभी भी हार नहीं मानता।

नारकीय जीवन का ऐसा उल्लेख ब्राह्मणवादी साहित्य में दूर–दूर तक भी देखने को नहीं मिलता है। लेखक का एक एक वर्णन दिल की गहराई तक उतर जाता है। ऐसा लगता है इन सभी घटनाओं से हम कहीं न कहीं दो चार होते हैं। दलितों के ऊपर फब्तियाँ कसना तो ये ब्राह्मणवादी लोग अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं इसका उदाहरण हम माननीय मायावती जी के संदर्भ में देख सकते हैं। हमारे देश की पांच महिलाएं पुरुष सत्ता को मुँह चिढ़ाती हुई मुख्यमंत्री के पद पर आसीन थी जिसमें मायावती उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री, शीला दीक्षित दिल्ली की मुख्यमंत्री, जयललिता तमिलनाडु की मुख्यमंत्री, वसुंधरा राजे सिंधिया राजस्थान की मुख्यमंत्री और अभी वर्तमान में ममता बनर्जी बंगाल की मुख्यमंत्री हैं लेकिन अगर देखा जाये तो मुख्यमंत्री के आधार पर जो आदर–भाव मायावती जी को मिलना चाहिए था वह उन्हें नहीं मिला बल्कि हर कार्य पर उनके जातिसूचक शब्दों से नवाजा जाता था और यह कहा जाता था कि चमाईन को सत्ता मिल गई तो उससे संभाला नहीं जा रहा है। हर बात पर मायावती जी को तिरष्कार सहना पड़ा। ऐसा लगता है कि धर्म और समाज में ठीक तरह से रहने का सारा ठेका इन ब्राह्मणों ने ले रखा है। बाकी दलित तो न अच्छा खाने का अधिकार रखते हैं और न ही पहनने का। सवर्ण जाति के लोग तो दलितों के साथ दुर्व्यवहार तो रखते ही हैं। मुसलमान भी इससे पीछे नहीं हटते। उनके अंदर भी दलितों को लेकर ब्राह्मणवादी मानसिकता है। इन्हीं सब मानसिकताओं का वर्णन 'जूठन' में देखने को मिलता है। लेखक कहता है कि "मुसलमान तगाओं का व्यवहार भी हिंदुओं जैसा ही था। कभी कोई अच्छा साफ–सुथरा कपड़ा पहनकर यदि निकले तो फब्तियाँ सुननी पड़ती है। ऐसी

फब्तियाँ जो बुझे तीर की तरह भीतर तक उतर जाती थी। ऐसा हमेशा होता था। साफ-सुथरे कपड़े पहनकर कक्षा में जाओ तो साथ के लड़के कहते, "अबे चूहड़े का, नए कपड़े पहनकर आया है।'' मैले-पुराने कपड़े पहनकर स्कूल जाओ तो कहते, "अबे चूहड़े के दूर हट, बदबू आ रही है। अजीब हालात थे। दोनो ही स्थितियों में अपमानित होना पड़ता था।''

जाति का लेबल एक ऐसा लेबल है जिससे जीवन भर पीछा छुड़ा पाना मुश्किल है। तभी तो बाबा साहब कहते थे "हिंदू सोसाइटी उस बहुमंजिली मीनार की तरह है जिसमें प्रवेश करने के लिए न कोई सीढ़ी है न दरवाजा। जो जिस मंजिल में पैदा हो जाता है उसे उसी मंजिल में मरना होता है।'' ये जातीयता जीवन भर आपका पीछा नहीं छोड़ती। आपकी सारी विद्वता जाति के आधार पर कायम की जाती है। जैसे ही जाति का पता चलता है आपकी विद्वता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। ये जाति का कोढ़ मृत्युपर्यन्त आपका पीछा छोड़ता नहीं हैं ये जोंक की तरह आपका सारा खून चूस डालता है। हमें ऐसा लगता है कि पढ़ने लिखने से हमें जाति से छुटकारा मिल जायेगा तो यह हमारा भ्रम होता हैं यही भ्रम वाल्मीकि जी के पिता को था। वे सोचते थे कि अगर मेरा बेटा पढ़ लेगा तो जाति से उसका पीछा छूट जायेगा। जब ओमप्रकाश वाल्मीकि को आर्डिनेंस फैक्टरी में प्रवेश मिल गया तो उनके पिता बहुत खुश होते हैं- "वे बार-बार एक ही बात कह रहे थे 'जाति' से तो पीछा छूटा। लेकिन जाति से मृत्युपर्यंत पीछा नहीं छूटता, इस तथ्य से वे अंत तक अपरिचित रहे।'' जाति एक ऐसा जहर है जो धीरे-धीरे व्यक्ति को अंदर तक झकझोर देता है। जैसा कि मैंने पहले कहा है जब तक जाति का ज्ञात सवर्ण व्यक्ति को नहीं है तब तक आप विद्वान हैं। लेकिन जैसे ही ज्ञात होता है कि आपकी सारी विद्वता धराशायी कर दी जाती है यहाँ तक कि प्रेम भी जाति की दीवार को नहीं तोड़ पाता। दलित होना जैसे अभिशाप माना जाता है। सरनेम और सुंदरता जैसे सवर्ण लोगों के घर की सम्पत्ति है। सरनेम के आधार पर जब तक ब्राह्मण समझा सिर आँखों पर बिठाया लेकिन जैसे ही जाति का आभास हुआ उसकी सारी सोच प्रेम सब धराशायी हो गया। वाल्मीकि जी कहते हैं कि जब मैंने सविता से कहा "यदि मैं एस.सी. हूँ... तो भी ...तुम एस.सी. कैसे हो सकते हो?'' उसने इठलाकर कहा "क्यों? यदि हुआ तो?'' मैंने जोर दिया। "तुम ब्राह्मण हो।'' उसने दृढ़ता से कहा "यह तुमसे किसने कहा'' "बाबा ने'' गलत कहा मैं एस.सी. हूँ... मैंने पूरी शक्ति से कहा ऐसा क्यों कहते हो? उसने गुस्सा दिखाया।... मैंने उत्तर प्रदेश के 'चूहड़ा' परिवार में जन्म लिया है।... वह रोने लगी थी। यदि यह सच है तो बाबा से मत कहना...। नहीं कहोगे... वादा करो... सविता की आँखों में अजीब सी याचना थी।''

इसी सरनेम के कारण लेखक की पत्नी सविता का अक्सर उससे विवाद हो जाता। वह दृढ़ शब्दों में कहती हैं "यदि हमारा कोई बच्चा होता तो मैं इनका सरनेम जरूर बदलवा देती।'' सरनेम पूरे समाज के लिए नासूर बन गया है। अगर सिं, चौबे, दूबे, चतुर्वेदी आदि नाम है तो बहुत ही गौरवान्वित महसूस करते हैं लोग लेकिन अगर यह सरनेम समाज के उस ब्राह्मणवादी सत्ता का द्योतक नहीं है तो बहुत ही संदेह के साथ आपके साथ व्यवहार किया जाता है यहाँ तक कि दलित समाज के लोग भी अपनी जाति को छिपाते फिरते हैं कि अगर आस-पड़ोस के लोगों को पता चल जायेगा तो उनके साथ व्यवहार अलग होगा वे स्वयं ही अपने को तुच्छ समझते हैं जिस पर्दाफाश वाल्मीकि की बहुत ईमानदारी से करते हैं "सभी के सामने अगर मान लेती कि आप मेरे चाचा हैं तो सहपाठिनों को मालूम हो जाता है कि मैं 'वाल्मीकि' हूँ... आप फेस कर सकते हैं, मैं नहीं कर सकती... गले में 'जाति' का ढोल बांधकर घूमना कहाँ की बुद्धिमानी है।'' सीमा के
तर्क समूची व्यवस्था की विद्रूप तस्वीर बनकर सामने खड़े थे। सीमा और चंदा दोनों ने मिलकर एक संयुक्त मोर्चा बना लिया मेरे सरनेम के खिलाफ।''

सरनेम को लेकर व्यक्ति बाहर ही नहीं अपितु घर में भी उपेक्षा का शिकार होता है जिसका प्रमाण 'जूठन' में बखूबी देख सकते हैं। "जिस रोज मंजू की शादी का कार्ड छपकर आया था, एक हादसा हो गया था। दर्शनाभिलाषियों की सूची में घर-परिवार के सभी लोगों के नाम छपे थे। सिर्फ मेरा नाम गायब था। मैंने इस बात को सहज ढंग से लेकर नजर अंदाज कर दिया था। लेकिन मेरी पत्नी को यह बात परेशान कर रही थी। उसने मंजू से पूछ ही लिया था कि कार्ड पर इनका नाम कैसे छूट गया।

मंजू ने बहाने बाजी करके बात टालने की कोशिश की। लेकिन चंदा ने जिद्दी स्वभाव पाया है। वह अड़ गई। मंजू से सच्चाई उगलवाकर ही दम लिया था।''

"भाभी यहाँ कोई नहीं जानता कि हम वाल्मीकि हैं। सभी को यही पता है खरे हैं। भैया का नाम छपते ही भेद खुल सकता था...'' नाम के पीछे चिपक सरनेम किसी को गौरवान्वित करता है तो किसी को शर्मसार होने के लिए भी मजबूर करता है। यह सरनेम समस्या सिर्फ शादी ब्याह तक ही सीमित नहीं होता बल्कि आपके लेखन को भी प्रभावित करता है। "उस रात डॉ. सुखबीर सिंह से एक लंबी चर्चा हुई थी 'वाल्मीकि' सरनेम को लेकर। उस रात उन्होंने मेरे नाम से 'वाल्मीकि' हटाकर 'खैरवाल' चस्पा कर दिया था। उनकी सद्य प्रकाशित पुस्तक 'सूर्यांश' पर मैंने समीक्षा लिखी थी। जिसे लेकर वे 'आजकल' में स्वयं गये थे। संपादक मंडल के एक सदस्य ने ओमप्रकाश के साथ खैरवाल लगा देखकर जब आश्चर्य व्यक्ति किया, तो डॉ. सुखवीर सिंह ने कहा था, "नहीं अब से हम उन्हें 'वाल्मीकि' नहीं 'खैरवाल' ही कहेंगे।''

दलितों के ऊपर होने वाले जुल्मों की संख्या गाँव में अधिक मात्रा में है। गांव के भीतर समानता का कोई स्थान नहीं है। इसका वर्णन हमें 'जूठन' में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है तभी तो बाबा साहब भीमराव अंबेडकर कहते हैं कि अगर नरक के दर्शन करने हैं तो सीधे गांव जाइये। ऐसा नारकीय जीवन कहीं पर भी लक्षित नहीं होगा। दलितों का पूरा जीवन सवर्ण लोगों के जीवन पर निर्भर है। उस जूठन को भी देते हुए इनको लगता है कि इन्होंने बहुत बड़ा कार्य किया है। जूठन देते वक्त भी दलितों को हेय और तृष्णा भरी नजरों से देखा जाता है। ऐसा नारकीय जीवन 'जूठन' में लेखक ने बहुत ही मार्मिक ढंग से उठाया है। सुखदेव सिंह की लड़की की शादी में जब वाल्मीकि की माँ ने काम के बदले खाना मांगा तो हिराकत की दृष्टि से देखते हुए सुखदेव सिंह कहता है कि "टोकर भर तो जूठन ले जा रही है... ऊपर से जाकतों के लिए खागा मांग रही है? अपनी औकात में रह चूहड़ी? उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन।'' इतना तिरष्कार तो शायद जानवरों के साथ भी न होता है। दलितों ने क्रूर भयावह स्थिति को अपने जीवन में भोगा है उसे सहा है।

सामाजिक रूप से बहिष्कृत ये दलित जाति आर्थिक रूप से तंगी की हालत में अपना जीवन व्यतीत करती है। पेट भरने के लिए एक जून की रोटी भी इन्हें नसीब नहीं होती है। इतनी मेहनत मजदूरी करने के बाद भी इन्हें पेट भरने की रोटी नहीं मिलती। जूठन पर इन्हें अपना जीवन निर्भर करना होता है। वाल्मीकि जी उस नारकीय दिन को याद करते हुए कहते हैं कि "शादी ब्याह के मौंकों पर, जब मेहमान या बाराती खाना खा रहे होते थे तो चूहड़े दरवाजे के बाहर बड़े-बड़े ओकरे लेकर बैठे होते थे। बारात के खाना खा चुकने के बाद झूठी पत्तल उन टोकरों में डाल दी जाती थी। जिन्हें बारात घर ले जाकर वे जूठन इकट्ठी कर लेते थे। पूरी के बचे-खुचे टुकड़े, एक आध मिठाई का टुकड़ा या थोड़ी बहुत सब्जी पत्तल पर पाकर बाहें खिल जाती थी। जूठन चटखारे लेकर खाई जाती थी।'' वाल्मीकि जी इस दर्दनाक और नारकीय जीवन का वर्णन करते हुए कहते हैं "पत्तलों से जो पूरियों के टुकड़े एकत्र होते थे उन्हें धूप में सूखा लिया जाता था। चारपाई पर कोई कपड़ा डालकर उन्हें फैला दिया जाता था।''

कड़ी मेहनत के बाद भी तगाओं से उन्हें उनकी मजदूरी नहीं मिलती है। मजदूरी देने में अक्सर लोग कंजूसी करते हैं। लेकिन भूख के सामने उनका विरोध फीका पड़ जाता है। दिन भर मजदूरी करने के बाद एक किलो गेहूँ से भी कम मिलता था। जिसमें पेट भरना बहुत मुश्किल था। "डॉ. सब कामों के बदले मिलता था दो जानवर पीछे फसल के समय पांच सेर अनाज यानी लगभग ढाई किलो अनाज। दस मवेशीवाले घर से साल भर में 25 सेर (लगभग 12-13 किलो) अनाज दोपहर को प्रत्येक घर से एक बची-खुची रोटी, जो खास तौर पर चूहड़ों को देने के लिए आटे में भूसी मिलाकर बनाई जाती थी।'' आर्थिक विषमताओं के कारण दलितों का जीवन अनुभवों में बीता है। नारकीय जीवन में इनका बचपन रौंदा गया है। सबसे कटुवा अनुभव इनका मरे हुए जानवर को उठाया गया है। सबसे कडुवा अनुभव इनका मरे हुए जानवर को उठाना और उनकी खाल उतारने का है। ये काम दलित अपनी इच्छा से नहीं करते थे बल्कि मजबूरी और बेगारी की हालत में इन्हें ये कार्य करना पड़ता था। पशु उठाने की उन्हें कोई भी मजदूरी नहीं दी जाती थी। हाँ खाल उतारकर उसे बाजार में बेचने पर कुछ पैसे जाकर मिल जाते थे।

लेकिन इसकी प्रक्रिया बहुत तकलीफदायक थी। मरे हुए मवेशियों की खाल की जब गठरी बनाकर पीठ पर रखकर चलना होता था तो वह किसी बच्चे के लिए असहनीय वेदना थी। जिसकी कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। वाल्मीकि जी जब मरे हुए मवेशियों की खाल की गठरी बना कर अपनी पीठ पर रखते हैं तो गठरी का बोझ कम होता है लेकिन अपमान का बोझ ज्यादा लगता है उनको डर होता था कि कहीं उनके स्कूल के मित्र उन्हें न देख ले। एक भयावह स्थिति थी लेखक के सामने जब उसे चाकू पकड़ाया गया। उन्हें लगा ये कैसी अपमानजनक स्थिति है। अजीब संकट में फंस गये। टूट रहा था वे कहते हैं "छुरी पकड़ते हुए मेरे हाथ काँप रहे थे अजीब सी संकट में फँस गया था। चाचा ने छुरी चलाने का ढंग सिखाया। उस दिन मेरे भीतर बहुत कुछ जो टूट रहा था। चाचा की हिदायत पर मैंने बैल की खाल उतारी थी। मैं जेसे स्वयं ही गहरे दलदल में फंस रहा था। जहाँ से मैं उबरना चाहता था। हालात मुझे उसी दलदल में घसीट रहे थे। चाचा के साथ तपती दोपहर में जिस यातना के मैंने भोगा था आज भी उसके जख्म मेरे तक पर ताजा है।''

खाल उतारने का इतना भयावह दृश्य जिससे एक दलित रूपरू होता है। जिसकी सारी उम्मीदें एक-एक करके दम तोड़ने लगती है। जिसका जख्म कभी न भरने वाला नासुर हो जाता है। "मुझे उस हाल में देखकर माँ रो पड़ी थी। मैं सिर से पांव तक गंदगी से भरा हुआ था। कपड़ों का खून के धब्बे साफ दिखाई पड़ रहे थे। बड़ी भाभी ने उस रोज माँ से कहा था, "इनसे ये न कराओ... भूखे रह लेंगे... इन्हें इस गंदगी में न घसीटो... मैं इस गंदगी से बाहर निकल आया हूँ लेकिन लाखों लोग आज भी उस घिनौनी जिंदगी को जी रहे हैं।'' दलित मजबूरी में मरे हुए मवेशियों को उठाते और उनका माँस खाते थे। ये एक दलित की स्थिति नहीं थी बल्कि कमोवेश हर दलित इसका शिकार था। सवाल उठता है कि ऐसा वीभत्स दृश्य सिर्फ दलितों के हिस्से क्यों। दलित परिवार में जन्म लेने के कारण ऐसा नारकीय जीवन उनकी झोली में क्यों। क्या कोई ब्राह्मण ऐसी जिंदगी को जिया है अगर इतिहास उठाकर देख लें तो इस सवाल का जवाब किसी के पास नहीं है। कोई भी गैर दलित इतना अपमान नहीं सहा है जितना दलितों के हिस्से में आया है। एक दलित का जीवन पल-पल नरक से भी बदतर होता है। जिंदगी को जीने के लिए न जाने कितने नारकीय पड़ावों को पार करना पड़ता है। पेट भरने के लिए ऐसे-ऐसे नारकीय साधनों का उपयोग करना पड़ता है कि इंसानियत भी चीख उठती है इसका ताजा उदाहरण हम गटर में उतरने वाले उन लोगों को देख सकते हैं जिनहें अपनी जान भी गवानी पड़ती है। अगर किसी गैर दलित को इन नारकीय और जानलेवा साधनों का उपयोग करना पड़े तो पता चलेगा कि दलितों का जीवन जीना कितना मुश्किल है।

'जूठन' में गरीबी की इंतहा को बखूबी लेखक ने दर्शाया है। अपने घर तथा गांव के जितने दलित परिवार ये उनकी भुखमरी का चित्रण लेखक करते हुए कहता है। बरसात में जीवन जैसे पंगु हो गया था। दर-दर भटकने पर भी भोजन के लिए कुछ प्राप्त नहीं होती है। स्थिति ये होती थी कि सवर्ण वर्ग से लोग इस गरीबी का फायदा हर कीमत पर उठाना चाहते थे। थोड़े अनाज के बदले वे उन दलित घरों के लड़कों को नौकर बनाना चाहते थे। उसके बदले वे अनाज देने को राजी होते थे। पेट की भूख की स्थिति इतनी दयनीय होती थी कि चूहड़े पर ही बच्चों की नज़र होती थी। उसी दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए वाल्मीकि जी कहते हैं। "कई रोज बाद भरपेट खाने का सिला बना था। माँ ने चावल उबालने के लिए चूल्हे पर एक बड़ा सा बर्तन चढ़ा दिया था। उसने चावल तो कम थे लेकिन पानी ऊपर तक भर दिया था। चावल उबलने की महक पूरी बैठक में भर गई थी। छोटे-छोटे बच्चे ललचाई नजरों से चूल्हे की ओर देख रहे थे। चावल उबल जाने पर पानी अलग कर दिया था। उस पानी के दो हिस्से कर दिये थे माँ ने एक हिस्से में से सभी बच्चों को एक-एक कटोरी चावल का पानी पीने के लिए दे दिया था। इस उबले चावल के पानी को माँड कहते थे। यह माँड हम सबके लिए दूध से कम नहीं था।'' दुर्गंध भरी जिंदगी दलितों की किस्मत बन गई थी। इस दुर्गंध भरी जिंदगी को मजबूरी में जीते थे न कि खुशी-खुशी। अगर ये उसने पीछा छुड़ाकर भागते भी तो खाते क्या। पेट भरने के लिए उन्हें वह दर्दनाक जिंदगी जीना पड़ता था। 'जूठन' में इसी दुर्गंध भरी जिंदगी का वर्णन करते हुए वाल्मीकि जी लिखते हैं- गाय, भैंस और बैलों को सर्दी से बचाने के लिए बड़े-बड़े दालानों में बांधा जाता था। रात भर जानवरों का गोबर और मूत्र पूरे दालान में फैल जाता था। दस-पंद्रह दिनों में एक बार पाती बदली जाती थी। या उसके

ऊपर सूखी पाती बिछा दी जाती थी। इतने दिनों में दालानों में भरी दुर्गंध से गोबर ढूँढ के निकालना बहुत तकलीफ देह होता था, दुर्गंध से सिर भिन्ना जाता था।

आर्थिक विषमता के साथ-साथ लेखक ने शिक्षा के ठेकेदारों की पोल 'जूठन' में बहुत ही मार्मिक ढंग से खोली है। जैसा कि शिक्षा के बारे में मैंने इससे पहले जिक्र किया था जहाँ शिक्षा पर सवर्ण सिर्फ अपना अधिकार समझता है। इसी शिक्षा के आधार पर ही आज तक दलितों का शोषण होता चला आ रहा है। शिक्षा पर अधिकार ये अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझते हैं। अगर कोई दलित शिक्षा अर्जित करना चाहता है तो ये इनको उससे वंचित रखते हैं। शिक्षा के अलावा जिंदगी के जितने भी गंदे कार्य हैं ये सवर्ण जाति सारे कार्य

दलितों की झोली में डालते हैं सिवाय शिक्षा और अर्थ को छोड़कर। जब ओमप्रकाश वाल्मीकि शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं तो उनके सामने विभिन्न चुनौतियाँ थी। गुरु को ईश्वर से ऊपर का दर्जा मिला है। कहा जाता है कि गुरु ईश्वर से बढ़कर होते हैं क्योंकि वो हमें ज्ञान का रास्ता दिखाते हैं लेकिन गुरुओं का रूप हम दलितों के प्रति देख सकते हैं। ये गुरु सिर्फ सवर्ण बच्चों को ही शिक्षा देना चाहते हैं। दलित समाज का बच्चा शिक्षा अर्जित न करे इसके लिए वे स्कूल में पढ़ाने की जगह उनसे झाड़ू लगवाते हैं। 'जूठन' में वाल्मीकि ने ऐसे अनेक स्थलों का वर्णन किया है। जहाँ मास्टर वाल्मीकि को पढ़ने से रोकते हैं। वाल्मीकि जी कहते हैं- "एक हेडमास्टर कालीराम ने अपने कमरे में बुलाकर पूछा "क्या नाम है बे तेरा?''.... चूहड़े का है।..."ठीक है... वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है उस पर चढ़ जा और टहनियाँ तोड़के झाड़ू बणा ले। पत्तों वाली झाड़ू बणाना और पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे जैसा सीसा।...पूरा दिन मैं झाड़ू लगाता रहा तमाम अनुभवों के बीच कभी इतना काम नहीं किया था।'' वाल्मीकि जी कहते हैं कि मास्टर का प्रतिदिन का यही कार्य था। जब मैं स्कूल जाता वह मुझसे झाड़ू लगवाते अगर वे मुझे क्लास में पढ़ते देख लेते थे गालियों से मुझे नवाजते थे। मास्टर का ऐसा रूप सिर्फ दलित वर्ग के बच्चों के लिए था। शिक्षा तंत्र की नग्नता हमारे सामने जगह-जगह मौजूद है। समाज में हम झाँक कर देखें तो शिक्षा पद्धति और सवर्ण शिक्षकों की घिनौनी मानसिकता लक्षित होती है। अगर हम 'जूठन' की तरफ दृष्टिपात करें शिक्षा के सारे आदर्श ध्वस्त होते दिखाई पड़ेंगे। ये सवर्ण शिक्षक दलित लड़कों को घर बुलाकर वाहियात पन की हदें पार कर देते थे। ब्राह्मणवादी मानसिकता के कई रूप हमें जगह-जगह देखने को मिलता है। गुरु द्रोणाचार्य ने शिक्षा न देते हुए भी एकलव्य से उसके दाएं हाथ का अंगूठा मांग लिया था। ऐसे होते हैं ब्राह्मण गुरु। अगर इन्हें पता चल जाये फलां बच्चा दलित है तो इनके अंदर का जानवर जाग जाता है। और वे भिन्न रूप से उन दलित बच्चों को कष्ट देने से पीछे नहीं हटते। 'जूठन' में वाल्मीकि जी कहते हैं "तीसरे दिन मैं कक्षा में जाकर चुपचाप बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनकी दहाड़ सुनाई पड़ी- "अबे, ओ चूहड़े के, मादर चोद कहाँ घुस गया...अपनी माँ...।''

उनकी दहाड़ सुनकर मैं थर-थर काँपने लगा था। एक त्यागी के लड़के ने चिल्लाकर कहा-"मास्साहब, वो बैट्ठा है कोणे में।'' हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोचती थी उनकी ऊँगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़ियाँ बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता हैं कक्षा से बाहर खींचकर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले- "जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू... नहीं तो गांड में मिर्ची डाल के स्कूल से बाहर काढ़ (निकाल) दूँगा।''

लेकिन बाबा साहब के हथियारों से लैस आज दलित समाज अपनी पहचान और मानवीय होने की लड़ाई बहुत ही संजीदगी से लड़ रहा है। दलित समाज के बहुत सारे लोग आज अपने डर पर काबू पाकर अपनी वजूद की लड़ाई लड़ रहे हैं जिसकी अनुगूंज हमें 'जूठन' में देखने को मिलती हैं। जहाँ वाल्मीकि जी अपने समाज के लोगों को संबोधित करते हुए कहते हैं कि "जितना डरोगे, लोग उतना ही तुम्हें डराएँगे। एक बार मन से डर निकाल दो, फिर देखो, तुमसे डरने लगेंगे। डर-डरकर हजारों साल से जी रहे हो, क्या मिला? पढ़-लिखकर अच्छे पद पर काम कर रहे हो, फिर भी डरे हुए हो, अपने भीतर के हीनताबोध से बाहर आकर देखो। भाई! यह भी कोई जिंदगी है। हर वक्त सिर्फ इस चिन्ता में घुलते रहो कि सामने वाला आपकी जाति के कारण आपके साथ गलत व्यवहार कर रहा है। जरा एक बार विरोध करके तो देखो, शायद स्थिति में कोई अंतर का आए। जिस बात से टकराना चाहिए, उससे डरकर भाग रहे हो, क्यों? इससे मुक्त होने का क्या यही रास्ता बचा है कि समस्या से

पलायन करके भाग लो इससे क्या समस्या खत्म हो गई! नहीं खुलकर कहो, जो भी कहना है अपनी अपनी काबिलियत साबित करो, स्थितियां बदलेंगी, यही तो जीवन संघर्ष है।''

जिंदगी में खुशी देने वाले छोटे–छोटे अंशों को भी लेखक ने बहुत ही मार्मिकता के साथ अपनी आत्मकथा में संजोया है। दलित समाज शुरु से ही अभाव में ही जिया है। अभाव तो जैसे उसको विरासत में मिली हुई है। यही कारण है कि जब उसे छोटी सी भी खुशी मिलती है तो वह किसी अनमोल वस्तु से ज्यादा मूल्यवान होती है और उसकी वह बहुत जद्दोजहद से देखभाल करता है। "जब मैं घर पहुँचा तो देखा, मेरा स्कूटर आँगन में खड़ा है, जिसे धो–पोंछकर अब्बा ने चमका दिया है और उसके ही पास बैठे हैं, उन्हें डर था कि आस–पड़ोस के शैतान बच्चे कहीं स्कूटर के साथ कोई छेड़खानी न करें। चन्दा ने बताया, "पता है, खुद स्टेशन से खींचकर लाए हैं इसे।''

"क्यों? अरे मेरे आने का तो इंतजार कर लेते। मैंने कहा। "इंतजार... इनका तो वश नहीं चला, वरना ये तो इसे सिर पर रखकर लाते ताकि टायर खराब न हो जाए।'' आगे वाल्मीकि जी कहते हैं– "दरअसल उनकी जो खुशी थी, उसे कोई भी समझ नहीं पा रहा था। जिस व्यक्ति ने सारी जिन्दगी अभाव में बिताई हो, उसके दरवाजे पर जब पहली बार स्कूटर आकर खड़ा होगा। इसका अंदाजा वही लगा सकता है जिसने यह महसूस किया हो। उनके लिए स्कूटर किसी इम्पाला से कम नहीं था। इसीलिए वे थोड़ी–थोड़ी देर बाद उसे झाड
पोंछ रहे थे। यह उनके जीवन की बहुत बड़ी खुशी थी।''

चाँद सितारों पर पहुंचने वाले हमारे देश के लोग अभी भी अपना मुँह 13वीं सदी की ओर किये हुए हैं और पीठ 21वीं सदी की ओर। आज भी हमारे देश के लोग जातीय व्यवस्था को सबसे महत्वपूर्ण मानते हैं ओर मनुष्य की विद्वता का आकलन उसके जाति से करते हैं जैसा कि मैंने पहले भी इस बात को इंगित किया है। जातीयता के आधार पर आज तक डॉ. भीमराव अंबेडकर को अपने महत्वपूर्ण और सामाजिक कार्यों के आधार पर जो जगह पर देश में वर्षों पहले मिल जानी चाहिए थी वह जगह आज भी मनुवादी समाज देने से इंकार करता है और उनके नाम को सिर्फ राजनीतिक मोहरे के रूप में अपनाता है। और यह दम्भ भरा जाता है कि दलित शोषण अब समाप्त हो चुका है अब ऐसा कुछ भी नहीं है जैसा पहले था। जातीयता हमारे समाज से छुमंतर हो चुकी है लेकिन जब इसके तह में झांक कर देखिए तो सच्चाई का वह आईना सामने आता है जिससे मानवता भी शर्मसार हो जाती है। आज भी दलित समाज के लोगों को जाति व्यवस्था के उस कुरुप रूप का सामना करना पड़ता है जहाँ अपनी योग्यता होने के बाद भी दलित समाज को बारंबार अपनी योग्यता साबित करने के लिए बाध्य किया जाता है जिसका उदाहरण 'जूठन' में देख सकते हैं– "मेरी शिकायत कर दी कि मि. वाल्मीकि लम्बे समय से ड्यूटी नहीं आ रहे हैं जबकि मैंने छुट्टी के लिए बाकायदा आवेदन किया हुआ था, जिसमें साफतौर पर लिख दिया था कि मेरी पत्नी का स्वास्थ्य खराब है, वे अस्पताल में भर्ती है, उसके बावजूद अमित मेहता ने तथ्यों को छिपाकर मेरी शिकायत महाप्रबंधक को की थी और यह भी कहा कि मुझे वाल्मीकि नहीं चाहिए। मैं उनके बगैर अपना अनुभाग चला सकता हूँ। बेहतर होगा उन्हें कहीं और पोस्ट करा दे। जिस लहजे में अमित मेहता ने ये बातें कहीं थी, वह बहुत गलत था। संयोग से उस वक्त शिवबाबू मिश्र भी वहाँ मौजूद थे। उन्हें से मुझे यह सब पता चल सका था। महाप्रबंधक ने मेरा ट्रांसफर यार्ड अनुभाग में कर दिया था, जहाँ सफाई कर्मियों, लेबरर्स आदि को मुझे देखना था। लोगों की ऐसी मान्यता थी कि उस अनुभाग में निकम्मे लोगों का ही ट्रांसफर किया जाता है।''

यह मात्र कोरी कल्पना नहीं है बल्कि 'जूठन' हमारे समाज का वह आईना है जिस पर हमेशा पर्दा डालने का प्रयास किया जाता है और बहुत चालाकी से यह साबत करने का प्रयास किया जाता है कि जातीय व्यवस्था अब उस रूप में नहीं है। अगर ऐसा है तो हमारे देश में ऐसे बहुत से दलित समाज के लोग हैं जो विद्वता में किसी से कम नहीं है लेकिन उनको वह प्रतिष्ठा या सम्मान नहीं मिलता जो उन्हें मिलना चाहिए। यह सोचने का विषय है। बहुत ही विडम्बना पूर्ण बात है कि ज्ञान के तराजू पर हमेशा जातीयता जीत कर अपना तांडव करती है और विभिन्न प्रयासों और तरीकों से दलित समाज के लोगों को जलील करने से पीछे नहीं हटती। उनको बारंबार उनकी औकात याद दिलाई जाती है और यह कहा जाता है कि वह जिस लायक है

उसको वह जगह मिलनी चाहिए यथार्थ वह उचित प्रतिष्ठा के योग्य नहीं है। 'जूठन' में वाल्मीकि जी को इसी मानसिकता का सामना अपने पूरे जीवन में करना पड़ता है और एक मानवीय अधिकारों की लड़ाई लेखक को लड़नी पड़ती है। जहाँ उसे बार-बार तोड़ने का प्रयास किया जाता है। "मेरा यह ट्रांसफर पूरी फैक्टरी में चर्चा का विषय बन गया था। यहाँ तक कि यूनियन ने भी महाप्रबंधक के इस निर्णय पर एतराज जताया था। लेकिन मैंने बिना किसी विरोध के उस अनुभाग का कार्यभार संभाल लिया था। कुछ ऐसे भी लोग थे जिनकी प्रतिक्रिया इस ट्रांसफर पर कुछ ऐसे शब्दों में सुनाई पड़ी थी- जिस लायक थे, वहीं पहुँचा दिया यानि उस अनुभाग में जो फैक्टरी की साफ-सफाई करता है।''

जैसा कि मैंने पहले भी जिक्र किया है कि अत्यधिक आधुनिकता से लैस हमारा समाज सरनेम के आधार पर आपकी औकात का आकलन करता है। आज भी इस देश का सच है कि जब आप मकान किराये का लेने जाइये तो सबसे पहले वो आपसे आप की जाति पूछेंगे। जाति के बिना तो इस देश के लोगों के नीचे एक निवाला तक नहीं उतर सकता। हम ऐसा नहीं कह सकते कि यह सोच सिर्फ अनपढ़ों के बीच तक ही है बल्कि यह तो पढ़े लिखे लोगों में और ज्यादा व्याप्त है बस तरीका अलग होता है। जब भी आप किराये का मकान लेने जाइए इस पीड़ा से आपको दो चार होना ही पड़ेगा। जिस पीड़ा से वाल्मीकि जी किराये का मकान खोजते हुए गुजरे थे। उनको मकान सिर्फ इसलिए नहीं मिल रहा था कि वो चूहड़ जाति के हैं इसका मार्मिक उदाहरण हम 'जूठन' में देख सकते हैं। जब लेखक को किराये का मकान ढूंढना पड़ता है "आपका सरनेम कया है?'' दूसरे पहले कि मैं उत्तर देता, अनिल ही बोला, "आपको सरनेम चाहिए या किराया?'' देखो जी, बाद में झंझट नहीं चाहिए, हम लोग कुमाऊँनी ब्राह्मण हैं, किसी डोम या मुसलमान को अपने यहाँ किराए पर नहीं रख सकते।'' आगे वाल्मीकि जी कहते हैं "अचानक मकान मालिक ने सवाल किया, "आप लोग मराठी हैं?''..... नहीं विजय भाई! आप नाराज न हों लेकिन हमें भी समाज में रहना है। आस-पड़ोस के लोग भी तो जानना चाहेंगे कि मकान किसको दिया है, तब हम क्या जवाब देंगे? हम तो जात-पाँत नहीं मानते लेकिन हमारी इस कॉलोनी में कोई भी किसी एस.सी. और मुसलमान को अपना मकान किराए पर नहीं देता है। आप तो सब जानते ही हैं विजय भाई।''

अपने आपको समाज सुधारक कहने वाले नकली वामपंथी हमारे समाज में कुकुरमुत्ते की तरह गिरगिट के रूप में मौजूद हैं वह अपने आपको दलितों का मसीहा साबित करने से पीछे नहीं हटते। वह यह दिखाने का प्रयास करते है कि वामपंथी लोग ही ऐसे है जो दलितों के पक्ष में खड़े रहते हैं। ऐसे नकली वामपंथियों की पोल वाल्मीकि जी ने अपनी आत्मकथा 'जूठन' के माध्यम से करते हुए कहते हैं कि "कुछ वामपंथी मेरे पास आये थे उनका आग्रह था कि अलग राज्य आंदोलन में आप हमारे साथ आए। मैंने उनसे भी यही कहा था कि यह आंदोलन आरक्षण विरोध से शुरु हुआ है। वामपंथी दल भी क्या आरक्षण के विरोध में है। आप अपनी पार्टी की नीति स्पष्ट करें... इस घटना के बाद मेरा एक पत्र 'हंस' में छपा था, जिस पर मैंने वामपंथी दलों की दोहरी नीतियों पर अपने विचार लिखे थे। उस पत्र को पढ़कर अवधेश कुमार मुझसे बहुत खफा हुए थे। और ऐसा कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देते थे, जहाँ वे मेरे खिलाफ अनर्गल प्रयास न करते रहे हो। उनके इस कार्य में हरजीत भी मेरे विरुद्ध हो गये थे बल्कि अवधेश से एक कदम और आगे बढ़कर उस संस्था 'अस्मिता अध्ययन केन्द्र' के खिलाफ मोर्चा खोल दिया था।'' 'जूठन' के दोनों भाग को पढ़ने के बाद हम यह कह सकते हैं कि जीवन के विभिन्न पहलुओं पर लेखक ने अपनी पैनी दृष्टि डाली है। इस आत्मकथा के बहाने से हमें समूचे दलित जीवन का पता चलता है। यह दलित जीवन की वेदना सिर्फ वाल्मीकि जी की न होकर समस्त दलित परिवार की मार्मिक महागाथा है। ये हर उस दलित समाज के जीवन पर दस्तक देता है जो कि यह हमारे ही जीवन का एक हिस्सा है।

अत: हम अंत में यह कह सकते हैं कि 'जूठन' मानवीय अधिकार बनाम दलित दखल का दस्तावेज है जहाँ वाल्मीकि जी के माध्यम से पूरे दलित समाज का दखल है मानवीय अधिकार के प्रति।